वेदोऽखिलोधर्ममूलम्

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

वैद प्रकाश

मासिक पत्र | मूल्यः ५ रुपये | अक्टूबर २०१४

कुल पृष्ठ संख्या २०, वजनः 40 ग्राम
प्रकाशन तिथिः 4 अक्टूबर 2014

अन्तःपथ

वैदिक-संस्कृति का केन्द्रीय-विचार (प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)	३ से ८
हमारे नैतिक गुण (पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय)	८ से १८

सुविचार

बोलने पर हम अपना ही ज्ञान दोहराते हैं। सुनने पर हम कुछ नया ज्ञान पाते हैं। इसीलिए 'वक्ता' बनने के साथ-साथ अच्छा 'श्रोता' भी बनें।

-स्वामी विवेकानन्द जी परिव्राजक

दक्षिण के बलिदानी वीरों का स्मरण

इस महापर्व पर

हमारे संस्थान का पठनीय साहित्य

वीरवर वेदप्रकाश ने गुंजोटी (महाराष्ट्र) में वैदिक धर्म और जाति रक्षा के लिए अपनी भरी जवानी वार दी। इससे बलिदानों की दक्षिण में अखण्ड परम्परा चल पड़ी। भाई श्यामलाल, वीर धर्मप्रकाश, महादेव, खण्डेराव, शिव चन्द्र एक के बाद दूसरे ने बलिदान दिया। इस बलिदान यज्ञ के 75 वर्ष पूरे होने पर परोपकारिणी सभा ऋषि मेला अजमेर पर और महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा 24,25,26 नवम्बर को बलिदान भूमि गुंजोटी में विशेष आयोजन कर रही है।

श्रद्धा से भरपूर हृदय लेकर अजमेर और गुंजोटी पहुँचें। अधिक जानकारी के लिए ला० गोविन्दराम लिखित इन बलिदानों पर पहली पुस्तक **"बलिदानी इतिहास हमारा"**, क्रान्तिवीर पं० नरेन्द्र तथा पं० रामचन्द्र देहलवी हमारे प्रेरक साहित्य में धर्म की, देश की, जाति की रक्षा के लिए निर्ममतापूर्वक जलाय गये आर्य वीरों व वीराङ्गनाओं की गौरवपूर्ण गाथा अवश्य पढ़ें। माता गोदावरी, माता हीरा बाई–भीमराम पटेल, कृष्णराव ईटेकर, काशीनाथ धारूर वीर गोविन्द राव को देश की अखण्डता के लिए कैसे जीवित जलाया गया। एक-एक बलिदान स्थलि पर जाकर इतिहासकार प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' ने इस स्वर्णिम इतिहास की सामग्री की खोज की।

वेदप्रकाश

संस्थापक : **स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द**

वर्ष ६४ अंक ०२ वार्षिक मूल्य : तीस रुपये, एक प्रति ५ रुपये, अक्टूबर, २०१४

सम्पा० **अजयकुमार** पूर्व सम्पादक : स्व० **स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती**

ओ३म्

वैदिक-संस्कृति का केन्द्रीय-विचार

–प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

सदियों की पराधीनता के बाद अब भारत स्वाधीनता के मार्ग पर चल पड़ा है। अब तक हम दूसरों के दिखाये मार्ग पर चलते थे, अब अपने निर्धारण किये हुए मार्ग पर चलेंगे। हमारा मार्ग क्या होगा–यह भविष्यत् बतलायेगा, परन्तु भूत के आधार पर, भारतीय विचारधारा की परम्परा के आधार पर, भारतीय-साहित्य के आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि अब तक हमारे मार्ग की दिशा क्या रही है, हम पराधीन होने से पहले सैकड़ों नहीं, हजारों सालों तक किस मार्ग पर, और उस मार्ग पर भी किस दिशा की तरफ चलते रहे हैं। वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्वों को जानने वालों का यह निश्चित विचार है कि प्राचीन काल में भारत के ऋषि-महर्षियों ने भारत को जिस मार्ग पर डाला था, इस देश के सम्मुख जो लक्ष्य निर्धारित कर दिया था, वही मार्ग और वही लक्ष्य हमारा और संसार का कल्याण कर सकता है, और अब फिर भारत को अपने तथा विश्व के कल्याण के लिये उसे मार्ग पर चलना होगा, उसी ध्येय को अपना लक्ष्य बनाना होगा। भारत के भविष्य का निर्माण अगर ऋषि-मुनियों के निर्धारित किये हुए लक्ष्य को सम्मुख रखकर होगा, तो यह देश फिर से संसार का मार्ग-प्रदर्शक बनेगा, फिर से दुनियाँ का सरताज होगा। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह लक्ष्य क्या था, उसे ढूँढें, कहाँ पायें?

उस लक्ष्य को पाने के लिये हमें 'वैदिक-संस्कृति' के मूल तत्त्वों की खोज में निकलना होगा। इस देश ने अपने यौवन-काल में एक 'संस्कृति' को जन्म दिया था जो अन्य संस्कृतियों से भिन्न थी। जैसे आजकल बड़े-बड़े शहरों पर गौरव किया जाता है, अमुक शहर में चालीस मंजिल के मकान हैं, साठ-साठ मील के दायरे तक मकान-ही-मकान बने हुए हैं, वैसे भारतीय संस्कृति में

बड़े-बड़े तपोवनों पर गौरव किया जाता था। अमुक ऋषि दण्डकारण्य में रहते हैं, अमुक ऋषि बृहदारण्य में निवास करते हैं! उस संस्कृति में शहर तो थे, परन्तु शहरों की अपेक्षा जंगल अधिक मशहूर थे। शहर चारों तरफ से वनों से घिरे हुए थे, जिनमें तपस्वी लोग अपनी कुटियाओं में बैठे आध्यात्मिक तत्त्वों का चिंतन किया करते थे। तपोवनों की वह संस्कृति आज की शहरों की सभ्यता से मौलिक रूप में भिन्न थी। हम इस पुस्तक में जगह-जगह उस संस्कृति का उल्लेख करेंगे, परन्तु क्योंकि आजकल के लोग तपोवनों के उन ऋषि-मुनियों के लिये 'सभ्य' शब्द का प्रयोग करते हुए हिचकिचाते हैं इसलिये यह जान लेना आवश्यक है कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में क्या भेद है, और अगर हम उन्हें 'सभ्य' न कहें, तो क्या 'संस्कृति' की दृष्टि से हमारे किसी मान-दंड से वे जीवन की तुला में हमसे हल्के उतरते हैं?

'सभ्यता' भौतिक और 'संस्कृति' आध्यात्मिक है–

'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में आधारभूत भेद है। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है; सभ्यता बाहर की चीज है, संस्कृति भीतर की चीज है; सभ्यता भौतिक विकास का नाम है, संस्कृति आध्यात्मिक विकास का नाम है। रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज आदि–ये सब सभ्यता के विकास के निदर्शक हैं; सच्चाई झूठ, ईमानदारी-बेईमानी, सन्तोष-असन्तोष, संयम-संयमहीनता आदि–ये सब संस्कृति के ऊँचे या नीचे विकास के निदर्शक हैं।

यह जरूरी नहीं कि संस्कृति के विकास में हम इस परिणाम पर ही पहुँचें कि हमें जीवन में सच्चाई से ही काम लेना चाहिए, झूठ से नहीं; ईमानदारी से ही रहना चाहिए, बेईमानी से नहीं; सन्तोष को ही लक्ष्य बनाना चाहिए, असन्तोष को नहीं; संयम से ही रहना चाहिए, असंयम से नहीं। हो सकता है, कोई देश ऐसी संस्कृति को ही अपनाये जिसमें झूठ, बेईमानी, असन्तोष, संयमहीनता आदि ही आधारभूत तत्त्व हों, परन्तु ऐसों को 'सु'–संस्कृत नहीं कहा जा सकता। संस्कृति के क्षेत्र में जो लोग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा इसी प्रकार के आध्यात्मिक तत्त्वों को आधार बनाकर चलेंगे वे एक प्रकार की संस्कृति को जन्म देंगे; जो हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि के दूसरी प्रकार के तत्त्वों को आधार बनाकर चलेंगे वे दूसरे प्रकार की संस्कृति को जन्म देंगे; जो हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि के दूसरी प्रकार के तत्त्वों को आधार बनाकर चलेंगे वे दूसरे प्रकार की संस्कृति को जन्म देंगे। इन दोनों का क्षेत्र संस्कृति होगी–एक ऊँची संस्कृति, दूसरी नीची संस्कृति–परन्तु उसे सभ्यता नहीं कहा जायेगा। सभ्यता का सम्बन्ध अहिंसा-हिंसा से, सत्य-असत्य से, अस्तेय-स्तेय से, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य से, अपरिग्रह-परिग्रह से नहीं। एक व्यक्ति

पैसे वाला है, बड़े भारी मकान में रहता है, दो-चार मोटरें हैं, पाँच-दस नौकर हैं, घर में रेडियो है परन्तु परले दर्जे का झूठा, बेईमान, दुराचारी, शराबी है। वह सभ्य है, सु-संस्कृत नहीं; ऊँचे अर्थों में, उसके पास सभ्यता है, संस्कृति नहीं, और अगर उसके पास कोई संस्कृति है, तो वह ऊँची संस्कृति, दैवी-संस्कृति नहीं, नीची-संस्कृति, आसुरी-संस्कृति है, क्योंकि वह अहिंसा के स्थान में हिंसा को, सत्य के स्थान में असत्य को, अस्तेय के स्थान में स्तेय को, ब्रह्मचर्य के स्थान में अब्रह्मचर्य को, अपरिग्रह के स्थान में परिग्रह को जीवन का आधार बनाये हुए है। नीची, आसुरी संस्कृति को—ऐसी संस्कृति को जो झूठ, बेईमानी, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि पर खड़ी हो—कोई संस्कृति नहीं कहता, इसलिये हम भी इस प्रकार की संस्कृति के लिये 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। इस दृष्टि से कोई व्यक्ति 'सभ्य' होता हुआ 'असंस्कृत' हो सकता है, और 'सुसंस्कृत' होता हुआ 'असभ्य' हो सकता है क्योंकि सभ्यता भौतिक है, बाहर की चीज है, संस्कृति—अच्छी हो, बुरी हो—आध्यात्मिक है, भीतर की वस्तु है। विश्वामित्र ऋषि जंगल में एक पर्ण-कुटी में रहते थे, वशिष्ठ ऋषि चर्म पहनते थे, महाराज रामचन्द्र घोड़े के रथ पर सवारी करते थे, 'सभ्यता' की दृष्टि से आजकल के महलों में रहने वालों, मीलों का मुलायम कपड़ा पहनने वालों और हवाई जहाज की सवारी करने वालों से वे नीचे थे, परन्तु' संस्कृति' की दृष्टि से आजकल के लोगों से बहुत ऊँचे थे, क्योंकि आत्मतत्त्व को निखारने वाले, नीचे को ऊँचा बनाने वाले, मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले संस्कार उनके रोम-रोम में बसे हुये थे।

'सभ्यता' और 'संस्कृति' साथ-साथ भी चल सकती हैं, एक दूसरे के बिना भी रह सकती हैं। यह हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टि से अत्यन्त उन्नत हो, उसमें रेल, तार, रेडियो, मोटर-सब कुछ हो, और साथ ही उस देश के वासी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के आध्यात्मिक तत्त्वों को भी जीवन का मुख्य सूत्र समझते हों। यह तो सबसे ऊँची अवस्था है, आदर्श स्थिति है। इस अवस्था में उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति दोनों ऊँची कही जायेंगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टि से बहुत ऊँचा हो, वहाँ विज्ञान के सब आविष्कार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुके हों, परन्तु आध्यात्मिक-दृष्टि से वह बहुत नीचा हो। वहाँ मोटरें हों, परन्तु मोटरों पर बैठकर लोग डाके डालते हों; रेडियों हों, परन्तु रेडियो पर अश्लील और गन्दे गाने ही गाये जाते हों। इस अवस्था में उस देश की सभ्यता ऊँची, परन्तु संस्कृति नीची कही जायेगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टि से नीचे स्तर में हो, परन्तु आत्मिक-स्तर में बहुत ऊँचा उठा हुआ हो। उस देश के वासी दूसरे के दुःख में

दु:खी होते हों, दूसरे के कल्याण के लिये अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि देते हों, झूठ, बेईमानी, दुराचार से दूर रहते हों, परन्तु वे मोटरों के बजाय बैलगाड़ियों में चलते हों, महलों के बजाय झोपड़ों में रहते हों। इस अवस्था में वह देश सभ्यता में भले ही पिछड़ा हुआ गिना जाये, परन्तु संस्कृति में उस देश के सामने सिर झुकाना होगा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में ऊँचा स्थान संस्कृति का है—ऐसी संस्कृति का जिसके आधार में सच्चाई, ईमानदारी, सन्तोष, संयम, प्रेम आदि आध्यात्मिक तत्त्व काम कर रहे हों। रेल, तार, रेडियो की संसार को इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी सचाई, ईमानदारी, संयम और विश्व प्रेम की। दोनों का होना सबसे अच्छा, परन्तु दोनों न हों तो संस्कृति का होना सभ्यता से अच्छा। सभ्यता को संस्कृति की रक्षा के लिये छोड़ा जा सकता है, संस्कृति को सभ्यता की रक्षा के लिये नहीं छोड़ा जा सकता। आत्मा के लिये शरीर छूट सकता है, शरीर के लिये आत्मा कैसे छूटेगा?

संस्कृति किसी सशक्त केन्द्रीय-विचार से उत्पन्न होती है—

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में क्या भेद है। हमने यह भी देखा कि 'संस्कृति' क्या है? परन्तु 'संस्कृति' उत्पन्न कैसे होती है? 'संस्कृति' का उद्‌भव जाति के जीवन के किसी ऐसे सशक्त विचार से होता है जो उस जाति के जीवन रूपी वृत्त का मानो केन्द्र होता है, उस जाति के विकास की सम्पूर्ण धारा उसी विचार-रूपी स्रोत से मानो प्रवाहित होती है। जिस जाति के पास उसके जीवन को विकसित करने वाला ऐसा सशक्त केन्द्रीय विचार नहीं होता, उस जाति की संस्कृति शून्य के बराबर होती है; जिसके पास होता है, उसकी संस्कृति उस जाति को सैकड़ों में एक बना देती है। संस्कृति का प्रवाह जीवन के किसी केन्द्रीय विचार से प्रस्फुटित होता है। यह विचार ऐसा होता है जैसे शरीर में आत्मा। आत्मा से शरीर का जीवन है, उस केन्द्रीय विचार से संस्कृति का जीवन है। यह विचार जितना प्रबल होगा उतनी संस्कृति प्रबल होगी, प्राणवती होगी; यह विचार जितना निर्बल होगा उतनी संस्कृति निर्बल होगी, प्राणहीन होगी। संसार में एक नहीं अनेक संस्कृतियाँ आयीं और नष्ट हो गयीं। क्यों नष्ट हुईं? इसलिये क्योंकि उन संस्कृतियों का केन्द्रीय-विचार निर्बल पड़ गया, संसार में विचारों के संघर्ष में वह टिक नहीं सका। जिस जाति के जीवन में कोई केन्द्रीय-विचार नहीं होता, ऐसा विचार नहीं होता जिसके लिये वह जाति-मरती है, वह संसार में विजय प्राप्त करती हुई भी उस जाति के सम्मुख सिर झुका देती है जिसे इसने जीता होता है। जिस जाति के जीवन में कोई केन्द्रीय विचार होता है, ऐसा विचार होता है जो उसे मरते-मरते भी जिन्दा रख सके, वह पराजित होती हुई भी विजेताओं के सामने

सिर नहीं झुकाती। मिस्र, ग्रीस, रोम, बैबीलोन की संस्कृतियाँ नष्ट हो गयीं। क्यों नष्ट हुईं? इसलिये क्योंकि इन देशों की संस्कृतियों को जीवित रखने वाला कोई ऐसा सबल, सशक्त, प्राणवान विचार नहीं रहा जो इनकी संस्कृतियों को जीवित रख सकता। ये देश तो अब भी मौजूद हैं, परन्तु अब जो कुछ है, वह ईंट-पत्थर है, जिस केन्द्रीय विचार ने इन ईंट-पत्थरों को खड़ा किया था, जिस विचार ने मिस्र को मिस्र, यूनान को यूनान और रोम को रोम बनाया था वह समाप्त हो गया–आत्मा चली गयी, शरीर रह गया, परन्तु संस्कृति तो आत्मा है, शरीर नहीं, इसलिये शरीर के रह जाने पर भी आत्मा के न होने के कारण उन देशों का होना-न-होना बराबर है। भारत सदियों तक पराधीन रहा, इस पराधीनता को भारत के शरीर ने माना, इसके आत्मा ने नहीं माना। क्यों नहीं माना? इसलिये क्योंकि भारतीय-संस्कृति के आधार में कोई ऐसा केन्द्रीय विचार था, जो दबाये दब नहीं सका, मिटाये मिट नहीं सका, हटाये हट नहीं सका।

वैदिक-संस्कृति का केन्द्रीय-विचार–

वह केन्द्रीय-विचार क्या था? भारत की संस्कृति के प्राण वेद रहे हैं, उपनिषद् रहे हैं, गीता रही है। यहाँ की संस्कृति का मूल-मन्त्र वही विचार था जिसका वेद के ऋषियों ने गान किया था, जिसका उपनिषदों के मुनियों ने उपदेश दिया था, जिसका गीता में कृष्ण ने प्रतिपादन किया था। यहाँ का मूल-भूत विचार एक था–प्रकृति है, परन्तु प्रकृति ही सब-कुछ नहीं, प्रकृति के पीछे आत्म-तत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं; शरीर है, परन्तु शरीर ही सब-कुछ लोग परमात्मा कहते हैं; शरीर है, परन्तु शरीर ही सब कुछ नहीं, शरीर के पीछे भी आत्म-तत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग जीवात्मा कहते हैं। प्रकृति और शरीर का खेल संसार है; संसार है, तो संसार का भोगना भी टल नहीं सकता; परन्तु जैसा सत्य यह है कि संसार को हमने भोगना है, वैसा ही अटल सत्य यह भी है कि संसार को हमने छोड़ना भी है। परमात्म-तत्त्व के सामने प्रकृति-तत्त्व तुच्छ है, जीवात्म-तत्त्व के सामने शरीर-तत्त्व तुच्छ है। जीवात्म-तत्त्व ने शरीर को साधन बनाकर परमात्म-तत्त्व की तरफ आगे-आगे बढ़ते जाना है, जहाँ पहुँच चुका है उसे छोड़कर जहाँ नहीं पहुँचा वहाँ कदम बढ़ाना है। द्वैत मानें, अद्वैत मानें, आस्तिकवाद मानें, नास्तिकवाद मानें–वैदिक-संस्कृति की घोषणा है कि जब प्रत्येक व्यक्ति को संसार किसी-न-किसी दिन छोड़ना है, तब संसार में रमें रहना, इसी के भोगों में लिप्त रहना किसी का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। सुख तो नास्तिक-से-नास्तिक भी चाहता है। संसार को भोगने में सुख है, परन्तु इन भोगों में लिप्त रहने में सुख नहीं। जीवन का वही मार्ग सुख देने वाला है जिससे मनुष्य

संसार को भोगता हुआ भी उसमें लिप्त न हो–**'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।'** जब अन्तिम सत्ता इसकी नहीं, उसकी है, विश्व की नहीं, विश्वात्मा की है, तब निर्लेप, निस्संग, निष्काम भाव से संसार में रहना–यही तो जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। इस विचार में संसार को बिल्कुल त्याग देने का, जंगल में भाग जाने का भाव नहीं है। वैदिक-संस्कृति यथार्थवादी संस्कृति है। संसार में जो कुछ दिखायी देता है वह उसे वैसा मानती है, उसकी सत्ता को पूरी तरह से स्वीकार करती है। यह संसार हमारे भोगने के लिये रचा गया है। यह इसलिये नहीं रचा गया कि इसे देखकर हम आँखें मूँद लें, इससे भाग खड़े हों। वैदिक-संस्कृति का मौलिक विचार यह है कि संसार तो भोगने के लिये ही रचा गया है, इसे भोगो, परन्तु भोगते-भोगते इसमें इतने लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुध-बुध ही भुला दो, अपने आपे को इसी में खो दो। संसार को भोगो परन्तु त्याग-पूर्वक, संसार में रहो, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, इसमें रहते हुए भी इसमें न रहने के समान, पानी में कमल-पत्र की तरह, घी में पानी की बूँद की तरह! यह सब इसलिये, क्योंकि यथार्थवादी दृष्टि से जैसे संसार का होना सत्य है, वैसे यथार्थवादी दृष्टि से ही संसार का हमसे छूटना भी सत्य है। 'भोगना' और 'त्यागना'–इन दोनों सत्यों का सम्मिश्रण संसार की और किसी संस्कृति में नहीं है, सिर्फ वैदिक-संस्कृति में है। अन्य संस्कृतियाँ इन दोनों में से सिर्फ एक सत्य को ले भागी हैं। कोई त्यागवाद को ले बैठी है, कोई भोगवाद को; किसी ने प्रकृतिवाद को, भौतिकवाद को जन्म दिया, किसी ने कोरे अध्यात्मवाद को भोग और त्याग का समन्वय भौतिकवाद मेल सिर्फ वैदिक-संस्कृति में पाया जाता है, और यही इस संस्कृति का आधार-भूत मौलिक विचार है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि संसार की महान् संस्कृतियाँ किसी केन्द्रीय-विचार का विकास होती हैं। वह विचार जितना हजारों वर्षों की ऋषि-मुनियों की तपस्या को नगण्य समझकर नहीं बनाया जा सकता। हम जिस नवीन रचना का निर्माण करने लगेंगे, कोई-न-कोई उस रचना से मेल खाने वाला प्राचीन विचार उस रचना को आकर झाँकने लगेगा, उस रचना में अपनी पुट देने लगेगा। हम अपने देश की प्राचीन संस्कृति के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते, और उस संस्कृति को समझने के लिये उसके 'केन्द्रीय-विचार' को समझे बिनाक आगे कदम नहीं रख सकते।

हमारे नैतिक गुण

–पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत ऋषि दयानन्द के तत्त्व-दर्शन से उद्धृत

मनुष्य के नैतिक गुण मनुष्य की सभ्यता जितने प्राचीन हैं। ऋषि दयानन्द ने इनका

आविष्कार नहीं किया। बस, इनका अर्थ एवं महत्त्व स्पष्ट किया है। उनका तप उस अज्ञान के बादलों को छाँटकर हटाने में निहित है जिनके पीछे वेद-ज्योति छिप गई थी। यह तप मानवता की लौकिक समृद्धि एवं पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति हेतु आवश्यक था। इन दोनों तत्त्वों की प्राप्ति ही आचार-शास्त्र, नैतिकता एवं धर्म का उद्देश्य है।

वैशेषिक में धर्म

कणाद् ऋषि कहते हैं—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥**

—वैशेषिक दर्शन : अध्याय-1, आह्निक-1, सूत्र-2

(जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, वह धर्म है।)

ऋषि दयानन्द उक्त सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं—

यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः। अतो विपरीतो ह्यधर्म2च। —ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका : वेदोक्तधर्मविषयः

(जिसका आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म और उससे विपरीत अधर्म होता है।)

यहाँ धर्म या नैतिकता के दो लक्षण बताये गये हैं—(1) यह सांसारिक समृद्धि की प्राप्ति कराने वाला हो; सांसारिक समृद्धि 'जीवन का साध्य' नहीं है; इसकी प्राप्तिभर से जीवन पूर्ण नहीं होता; यह तो 'साधन' है। (2) मोक्ष की प्राप्ति 'जीवन का साध्य' है। कहना आवश्यक न होगा कि साध्य और साधन (या लक्ष्य और मार्ग) में अन्तर होता है। मार्ग लक्ष्य तक पहुँचने के लिए होता है। यदि मार्ग न होगा अथवा गलत का टूटा-फूटा मार्ग होगा तो वाञ्छित यात्रा न हो पाएगी। वही मार्ग सही होगा जो हमें सुखपूर्वक लक्ष्य तक पहुँचा दे। यदि सड़क उत्तम कोटि की और सीमेन्ट से बनी हो किन्तु लक्ष्य की ओर न जाती हो तो वह वाञ्छित मार्ग नहीं है और उससे कोई बुद्धिमान् व्यक्ति न जाएगा।

इसी प्रकार सांसारिक समृद्धि आवश्यक तो है किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक यह लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक रहे। इस कारण ऋषि दयानन्द आचार-शास्त्र के सांसारिक मूल्य की उपेक्षा नहीं करते। उनका तत्त्व-दर्शन विषयासक्तिवाद के विरुद्ध अवश्य है, किन्तु संसारत्यागवाद नहीं है। यह समृद्ध जीवन की अनुमति देता है, बस, मनुष्य साध्य को अनदेखा न करे। धर्म का 'निःश्रेयस' भाग मरणोपरान्त प्राप्त होने वाला आनन्द मात्र नहीं है। यह तो जीवन-काल में ही भौतिक-सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति से भिन्न अर्जित होने वाला आन्तरिक-आध्यात्मिक उत्थान

है। जीवन की शिक्षा यह है कि उथली वस्तुएँ नि:शेष हो जाती हैं। गम्भीर वस्तुएँ बनी रहती हैं और मनुष्य का भविष्य निर्धारित करती हैं।

धर्म के चार लक्षण

धर्म के चार लक्षण समझाते हुए ऋषि दयानन्द 'सत्यार्थ प्रकाश' (समुल्लास-7, प्रस्तर-53) में कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यय च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

—मनुस्मृतिः अध्याय-2, श्लोक-12

वेद, स्मृति (वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र) सत्पुरुषों का आचार, जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण हैं, अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपात-रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म; इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं।

धर्म के चार लक्षणों में पहला है 'वेद'। वेदों में सार्वभौम सिद्धान्तों का ज्ञान है। परन्तु साधारण मनुष्यों के लिए पूर्णत: निश्चित करना कठिन होता है कि किसी परिस्थिति में क्या धर्म है और क्या नहीं। इसे सरल बनाने के लिए ऋषि मुनियों ने समय-समय पर ग्रन्थ लिखकर वैदिक सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है और मनुष्य के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को विस्तार से समझाया है। ये ग्रन्थ 'स्मृति' कहलाते हैं। इनमें मनुस्मृति के प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर जो शोधपूर्वक हटाने योग्य है मूल भाग के प्रति ऋषि दयानन्द अपूर्व सम्मान प्रकट करते हैं। जन-सामान्य के मार्गदर्शन के लिए केवल सिद्धान्त एवं नियम अपर्याप्त होते हैं और उसे प्रमाण के साथ दृष्टान्त की अपेक्षा होती है, अत: उसके लिए तीसरा लक्षण है 'सदाचार' अर्थात् महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित। किसी सिद्धान्त में छिपा हुआ सत्य जब जीवन में उतरा हुआ दिखता है, तब अधिक स्पष्टता से समझ में आता है। चौथा एवम् अन्तिम लक्षण है 'आत्मा की साक्षी' अर्थात् वह करना जो पवित्र अवस्था में अपने आत्मा को प्रिय हो।

आत्मा की साक्षी

ऋषि दयानन्द आत्मा की साक्षी को अतिशय महत्त्व देते हैं और इसे परमात्मा की शिक्षा बताते हैं। वे इसका महत्त्व बताते हुए 'सत्यार्थ प्रकाश' (समुल्लास-7, प्रस्तर-10) में कहते हैं—

''और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता या चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की 'इच्छा, ज्ञानादि' उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में शंका और लज्जा तथा अच्छे कर्मों के करने में अभय, नि:शंकता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है।''

मनु-प्रोक्त नैतिक गुण

मनुस्मृति (अध्याय-6, श्लोक-92) में दस नैतिक गुणों का उपदेश किया गया है। ऋषि दयानन्द इनमें 'अहिंसा' और मिलाकर कुल 11 गुणों का उल्लेख 'संस्कार विधि:' (गृहाश्रमप्रकरणम्) में निम्नवत् करते हैं—

धृतिः क्षमा दमोतेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थ-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें।

धर्म नाम न्याय-'पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण' और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना। इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं—(अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना। (**धृतिः**) सुख-दु:ख, हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना। (**क्षमा**) निन्दा-स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना। (**दमः**) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना। (**अस्तेयम्**) मन-कर्म-वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना। (**शौचम्**) राग-द्वेषादि के त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (**इन्द्रियनिग्रहः**) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म में ही चलाना। (**धीः**) वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्मचर्य एवं सत्संग करके और कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि का त्याग करके बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना। (**विद्या**) जिससे भूमि से लेके परमेश्वरपर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना। (**सत्यम्**) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना। (**अक्रोधः**) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इसका ग्रहण करना चाहिए।

अन्याय=पक्षपात सहित आचरण अधर्म है, जो कि हिंसा=वैर-बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतकर अधर्म में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना,

अविद्या जो कि अधर्माचरण, अज्ञान है उसमें फँसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फँसकर अधर्मी, दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं। इनसे सदा दूर रहना चाहिए।

शतपथ-प्रोक्त दस गुण

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट 10 नैतिक गुणों का उल्लेख ऋषि दयानन्द 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' (वेदोक्त-धर्मविषयः) में निम्नवत् करते हैं—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्री-र्धीर्भीरित्यतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति॥(काण्ड-14, अध्याय-4)

(कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना, इसका नाम काम है। **(संकल्पः)** जो सुख और विद्यादि शुभगुणों को प्राप्त होने के लिए प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है, उसको संकल्प कहते हैं। **(विचिकित्सा)** जो-जो काम करना हो उस उस को प्रथम शंका कर-कर के ठीक निश्चय करने के लिए जो सन्देह करना है उसका नाम विचिकित्सा है। **(श्रद्धा)** जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको श्रद्धा जानना। **(अश्रद्धा)** अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिए। **(धृतिः)**जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना, उसका नाम धृति है। **(अधृतिः)** बुरे कामों में दृढ़ न होने की अधृति कहते है। **(ह्री)** अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको ह्री कहते हैं। **(धीः)** जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है, उसको धी कहते है। **(धीः)** जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है, ऐसा जानकर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूँगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा, इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम 'मन' है। इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिए युक्त करो।

नैतिक गुणों के विषय में दो परस्पर विरुद्ध बातें कहीं भी सुनने में आ जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. संसार में सबसे अधिक बदलने वाली दो वस्तुएँ हैं न्यायशास्त्र और आचार-व्यवहार। ये तथा अन्य अनेक नैतिक गुण युग और स्थान बदलते ही बदल जाते हैं।

2. नैतिक गुणों और आचार-शास्त्र की मान्यताओं में आते हुए परिवर्तनों के

पीछे भी कुछ मानवीय गुण ऐसे स्थायी हैं जो न केवल मनुष्यों द्वारा सर्वत्र सर्वदा सराहे जाते हैं, अपितु बाह्यत: परिवर्तनशील लगते हुए भी अपने स्वरूप में 'नित्य' हैं।

पाँच यम

ऋषि पतञ्चलि सार्वभौम एवं सार्वकालिक नैतिक गुणों का उपदेश करते हुए कहते हैं—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा: ॥
जातिदेशकाल समयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम् ॥

—योग दर्शन : पाद - 2, सूत्र-30,31

(अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मिलकर पाँच 'यम' कहलाते हैं। ये जाति (मनुष्य, पशु आदि), स्थान, काल और समय विशेष, इन सबसे अबाधित अर्थात् सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य होने से 'सार्वभौम महाव्रत' कहलाते हैं।)

महात्मा गांधी ने भी अपने युग में इसी बात पर बल दिया है। वे कहते हैं कि हम किसी भी परिस्थिति में सत्य-अहिंसा की उपेक्षा नहीं कर सकते और हमारा जीवन उसी अनुपात में अच्छा कहलाएगा जितना हम इन गुणों का आचरण करते हैं। कभी-कभी हम अपनी अदूरदर्शिता से क्षणिक और निम्न मूल्यवान् वस्तुओं से सन्तुष्ट हो जाते हैं; किन्तु इससे गुणों का मान कम नहीं होता। इससे तो केवल यह विदित होता है कि वस्तुओं के आकलन की हमारी क्षमता में कमी है। अर्बन भी कहते हैं— ''निस्सन्देह, अधिक विकसित होने पर नैतिक गुणों में आन्तरिक बल आ जाता है। तब इन गुणों के धारक ही नहीं, दर्शकों को भी हर्ष एवं सन्तोष प्राप्त होता है।''[1]

न्याय और दया

प्रश्न उठता है कि यदि नैतिक गुण 'नित्य' हैं, तो इनमें विरोध क्यों प्रतीत होता है? यदि गुण और दोष में विरोध हो तो समझ में आता है। एक गुण का दूसरे गुण से विरोध नहीं होना चाहिए। फिर न्याय और दया के गुण विरोधी क्यों प्रतीत होते हैं? ईश्वर न्यायकारी और दयालु दोनों है। परन्तु वह न्यायकारी होकर दया कैसे करेगा और दयालु होकर न्याय क्या करेगा? ईश्वर को अन्यायी कहना तो उसकी निन्दा करना है। यदि वह वास्तव में न्यायकारी है तो पापियों का क्या होगा और हमारे कर्मों का फल कठोर न्याय के आधार पर होगा तो मोक्ष कौन प्राप्त कर पाएगा?

वस्तुत: यह प्रश्न विद्या का नहीं, आस्था[1] का है। अधिकांश धर्म-दर्शनों में मोक्ष का

1. फण्डामेण्टल्स ऑफ इथिक्स: पृष्ठ 339

निर्णय ईश्वर की दया या मर्जी पर होना बताया जाता है, न्याय पर नहीं। इस बिन्दु पर कर्म-सिद्धान्त को तो ठिठोली मान लिया जाता है। अधिकांश धर्म-सम्प्रदायों में श्रद्धा या विश्वास के बजाए आस्था का महत्त्व है, मनुष्य के कर्मों का नहीं अपितु ईश्वर की दया या मर्जी का, जिसकी प्राप्ति कुछ विशेष वचन-कर्म द्वारा हो सकती है। यह मान्यता धर्म-सम्प्रदायों में इतनी गहरी पैठ गई है कि अनेकानेक नैतिक गुत्थियाँ उपज गई हैं। इस बिन्दु पर ऋषि दयानन्द अनुपम समाधान देते हैं। उनके तत्त्व-दर्शन में जीवात्मा के स्वरूप के साथ सब नैतिक गुणों की संगति है और किसी का किसी से विरोध नहीं है। जो 'विरोध' ऊपर कहा गया है, वह अर्थों को न समझ पाने के कारण प्रतीति मात्र है। ऋषि दयानन्द 'सत्यार्थ प्रकाश' (समुल्लास-7, प्रस्तर: 12-16) में प्रश्नोत्तर शैली में कहते हैं—

प्रश्न : परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं?

उत्तर : है।

प्रश्न : ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाए, क्योंकि न्याय उसको कहते है कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दु:ख पहुँचाना और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर : न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दु:खों को प्राप्त न हों। वही दया कहाती है जो पराये दु:खों का छुड़ाना। जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम न्याय है और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाए तो दया का नाश हो जाए, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दु:ख देना है। जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दु:ख प्राप्त होता है, वह दया किस प्रकार हो सकती है? दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

प्रश्न : फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए? क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है, इसलिए एक शब्द का रहना तो अच्छा था। इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।

उत्तर : क्या एक अर्थ के अनेक नाम और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते?

प्रश्न : होते हैं।

उत्तर : तो पुन: तुमको शंका क्यों हुई?

प्रश्न : संसार में सुनते हैं इसलिए।

उत्तर : संसार में तो सच्चा-झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है।

देखो! ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि उसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन सी है? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दु:ख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख होने और दु:ख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है, वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दु:खों से पृथक् कर देना।

ब्रह्मचर्य और चरित्र

ब्रह्मचर्य के नैतिक गुण को अनेक जीवन-प्रणालियों के विचारकों ने कम महत्त्व दिया। उनके मत में वह आचार-शास्त्र स्वस्थ नहीं कहला सकता जो मानवी दोषों के प्रति नमनीय न हो ; इन दोषों में सबसे महत्त्वपूर्ण है स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कहते हैं—''किसी सभ्यता की वास्तविक परीक्षा इस बात में है कि वह मनुष्य-चरित्र की कमियों एवम् असंगतियों के प्रति कैसा दृष्टिकोण अपनाती है।''[1]

जैसे ईश्वर की दया एवं न्याय के गुणों में संगति बैठानी आवश्यक है ताकि हम अपने जीवन में दोनों का महत्त्व समझ सकें, उसी प्रकार काम-जनित दोषों पर विचार करने के लिए सामाजिक न्याय एवं सामाजिक दया में संगति बैठानी आवश्यक होगी। मनुष्य के चरित्र-दोषों के प्रति तर्कसंगत दृष्टिकोण अपनाते हुए ऋषि दयानन्द 'सत्यार्थ प्रकाश' (चतुर्थ समुल्लास) में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अन्तर्गत 'विवाह और नियोग' विषय पर समुचित समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—''जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहें तो कोई उपद्रव न होगा और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें (प्रस्तर-122)।'' जीवनसाथी की मृत्यु अथवा वंशच्छेदन की स्थिति में ऋषि दयानन्द नियोग की अनुमति देते हैं, किन्तु वे किसी भी स्थिति में व्यभिचार की अनुमति नहीं देते।

डॉ० राधाकृष्णन् ने इस बिन्दु पर अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी' में चर्चा की है। वे कहते हैं कि नैतिकतावादी और कविजन ने प्राय: भिन्न-भिन्न मार्ग चुने हैं और दोनों अपने-अपने स्थान पर दृढ़ हैं। प्रत्येक मामले का समाधान खोजना कठिन होता है; किन्तु स्त्री-पुरुष को समान अधिकार देकर यदि बुराई पूर्णत: समाप्त नहीं तो कम अवश्य की जा सकती है। यहाँ ऋषि दयानन्द का

मार्गदर्शन स्पष्ट है और अन्य नैतिकतावादियों की तुलना में उनका विधान साहसपूर्ण है। वे किसी विषय-स्त्री को पुरुष से कम अधिकार नहीं देते।

आधुनिक जीवन-प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् आत्म-संयम की आवश्यकता पर बल देते हैं और कहते हैं—''पति का व्यभिचार पत्नी की तुलना में अधिक क्षम्य माना जाता है। पति स्वपक्ष लेकर कहता है कि उसका दोष महत्त्वपूर्ण नहीं है; अकस्मात् घटित हो गया है; इसका कोई दुष्परिणाम न निकलेगा; यह दाम्पत्य सम्बन्ध को बिगाड़ने योग्य नहीं है। गैल्सवर्दी ने भी कहा है कि 'पुरुष के व्यभिचार से परिवार में दूषित रक्त नहीं आता; स्त्री के व्यभिचार से आता है; अत: स्त्री का पाप अधिक माना जाता है। समाज में स्त्री-पुरुष को लेकर दोहरे मापदण्ड हैं, जो दु:खद हैं। वस्तुत: शरीर की शुद्धता एवं चरित्र की पवित्रता साथ चलती है।

''अनुशासन एवं मर्यादा मनुष्य की गरिमा के लिए आवश्यक हैं। प्लेटो के मत में भी संयम सुख का शत्रु नहीं अपितु पत्र है। वस्तुत: जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की स्थापना के लिए अनुशासित जीवन जीना आवश्यक है। उत्तेजना-जनित हिंसा 'अनुशासन' से ही जा सकती है। ऐसा न होने से प्रेम के नाम पर भी मलिनता, विषाद एवं निर्लज्जता देखने को मिलती है। आखिर कीचड़ मलने से तो पवित्रता नहीं आ सकती।''[1]

उपर्युक्त विचार ऐसा ही है जैसा कि ऋषि दयानन्द ने कहा है, बस शैली भिन्न है। एक और बिन्दु स्पष्ट करने योग्य है। एक ऐसा वैचारिक सम्प्रदाय भी है जो साधु वेशधारी लोगों को उच्च-स्तरीय बताकर उनके लिए नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं मानता। ऋषि पतञ्जलि ने जिन योगियों को उच्च-स्तरीय बताया, वह वर्ग भिन्न है। वर्तमान सांसारिक लोगों के वर्ग के अनेकानेक व्यक्ति नैतिक अधमता के दोषी पाये गये हैं। तथापि वे कहते हैं कि बाह्य कर्म शरीर के अंगों ने किये हैं, आत्मा पवित्र है। ऋषि दयानन्द ऐसे व्यक्तियों को पाखण्डी कहते हैं और स्पष्ट करते हैं कि कर्मों का कर्त्ता 'आत्मा' है, शरीर के अंग नहीं। वे ऐसे व्यक्तियों को साधु-सन्त नहीं मानते जो स्वयं को नैतिक नियमों से ऊपर मानते हों।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भारतीय युवकों को चरित्र-दोष से बचाने के उद्देश्य से रूस का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—''लेनिन कहते हैं कि 'कम्युनिस्ट लोग प्रेम की स्वतन्त्रता को मानते हैं; किन्तु प्रेम में दो व्यक्ति सम्मिलित हैं और तीसरा भी आ जाता है; यह सामाजिक हितों का विषय है। अत: प्रेम और इसी प्रकार आत्म-संयम एवम् आत्मानुशासन 'दासता' नहीं हैं।' हमें यह भ्रम त्यागना होगा कि काम-वासना प्रगति का विचार है। मनुष्य की सभ्यता तो इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने में है। जिस राष्ट्र में आत्म-संयम एवं शुचिता का पालन होता है, वही राष्ट्र सुदृढ़ एवं सृजनशील बनता है।''[2]

यहाँ लेनिन ने सरल एवं सामयिक विचार दिया और डॉ० राधाकृष्णन् के अनुमोदन ने उनके विचार को पुष्ट किया है। परन्तु लेनिन ने समस्या के मूल का वैसा परीक्षण नहीं किया, जैसा ऋषि दयानन्द एवं महात्मा गाँधी ने करके वीरतापूर्वक सम्मति दी है।

पञ्च महायज्ञ

पञ्च महायज्ञ 5 नैतिक गुण एवं कर्म हैं, जो संक्षेप में प्राचीन आर्य जीवन-पद्धति के द्योतक हैं। ऋषि दयानन्द ने इन पर अत्यन्त बल दिया है। मध्य-काल में 'यज्ञ' का अर्थ बलि-कर्म माना जाता था, जो देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अग्नि में घृत, मांस आदि डालकर किया जाता था। ऋषि दयानन्द ने संस्कृत व्याकरण एवं शब्द-निर्वचन द्वारा 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठकर्म एवं कर्त्तव्य कर्म' सिद्ध किया। उन्होंने प्राचीन काल की सात्त्विक विधि से विपरीत पनपी मांसादि डालने की कुप्रथा को बन्द किया और वेद, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर 5 यज्ञ अर्थात् कर्त्तव्य-कर्म प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति के लिए आवश्यक बताये, जो प्रतिदिन किये जाने से 'महायज्ञ' कहलाते हैं।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥

—मनुस्मृति : अध्याय-4, श्लोक-21

(मनुष्य सदा ही जहाँ तक हो, इन पाँच कर्त्तव्यों को न छोड़ें, जिनके नाम हैं—ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ।)

1. ऋषियज्ञ:—यह पहला महायज्ञ है; इसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत दो कर्त्तव्य आते हैं—ब्रह्मांड के स्वामी ईश्वर की उपासना करना और वेदों का स्वाध्याय करना।

2. देवयज्ञ:—यह दूसरा महायज्ञ है। इसमें प्रतिदिन प्रात: एवं सायंकाल होम अर्थात् हवन करना अभिप्रेत है। इसके अन्तर्गत हवन-कुण्ड में चन्दन, आम आदि वृक्षों की समिधाओं से अग्नि जलाकर उसमें घी, शक्कर, जड़ी-बूटियाँ आदि सुगन्धित एवं रोग-निवारक पदार्थ आहुत किये जाते हैं। साथ-साथ वेद के मन्त्र बोले जाते हैं। यह किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए नहीं, अपितु वायुमण्डल को शुद्ध एवं कीटाणु-मुक्त रखने और वेदों से प्रेरणा लेने के लिए किया जाता है। देवयज्ञ में हवन के अतिरिक्त 'विद्वानों का आदर करना' भी सम्मिलित है।

3. पितृयज्ञ:—यह तीसरा महायज्ञ है। इसका अर्थ है माता-पिता आदि वृद्ध जनों की सेवा करना। इसके दो भाग हैं—श्राद्ध और तर्पण। मध्य-काल में इसका अर्थ बन गया था 'मृत पितरों के नाम से भोजन आदि पदार्थ निकालना' जो कि

अविद्या-जनित अन्धविश्वास के अतिरिक्त कुछ नहीं। ऋषि दयानन्द ने इसका वेदोक्त अर्थ करके बताया कि 'श्राद्ध' का अर्थ है 'श्रद्धापूर्वक सेवा करना' और 'तर्पण' का अर्थ है 'उत्तम कर्मों से तृप्त करना'। जिन वृद्धजनों ने हमारे शैशव में हमारा पालन-पोषण किया है, उनकी वृद्धावस्था में उनकी सेवा करना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है।

4. अतिथियज्ञः—यह चौथा महायज्ञ है; इसका दूसरा नाम 'नृयज्ञ' भी है। इसका अर्थ है 'अतिथियों की सेवा करना'।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेश्नाति।
पयश्च वा एष रसं च गृहाणमश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥
प्रजां च वा एष पशूँश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥
कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहार्णामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥

—अथर्ववेद : काण्ड-9, सूक्त-6, पर्याय-3, मन्त्र 1-5

(वह गृहस्थ व्यक्ति जो अतिथि को खिलाने से पहले स्वयं भोजन कर लेता है, उसके अर्जित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् इष्टसुख, अन्नदान, अन्न-दूध-रस, शक्ति, वृद्धि, प्रजा, पशु एवं यशकीर्ति उसे पूर्णता तक नहीं ले जा पाते।)

5. भूतयज्ञः—यह पाँचवाँ महायज्ञ है; इसका दूसरा नाम 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' भी है। इसका अर्थ है- सब जीवों पर दया करना; उनकी हिंसा न करना; उनसे यथोचित सेवा लेते हुए उनका समुचित पालन करना।

उपर्युक्त 'पञ्च महायज्ञ' मध्यकाल के सांस्कृतिक दूषण के कारण अर्थहीन रिवाज मात्र बनकर रह गये थे। बाह्य क्रियाओं की सीमा से बाहर आ, संशोधित होकर इन्होंने मनुष्य के समस्त कर्त्तव्यों को समाहित कर लिया है। अब ये पूजा-पाठ तक सीमित न रहकर व्यावहारिक जीवन के मार्ग बन गये हैं। ईश्वर की उपासना, वायुमण्डल की शुद्धता, माता-पिता की सेवा, अतिथियों एवं वृद्धजनों का आदर और प्राणिमात्र से प्रेम, ये पाँच गुण एवं कर्म सब देशों तथा सब कालों में सर्वमान्य आचार रहे हैं। भारतीय इतिहास के संघर्ष काल में भी इनका मान कम नहीं हुआ।

पञ्च महायज्ञ स्वगृह या परिवार से प्रारम्भ होकर एक व्यक्ति के विकास की भाँति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से संगति स्थापित कर लेते हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसा का सिद्धान्त अपनाया था। इसका शाब्दिक अर्थ 'अ' उपसर्ग के कारण निषेधात्मक माना जाता है; किन्तु नैतिक अर्थ आचार-परक है, जो मनुष्य के सब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यों से संयुक्त है। हमारे पञ्च महायज्ञ इसी अहिंसा-सिद्धान्त का सार्थकीकरण हैं।

अक्टूबर 2014 में प्रकाशित होने वाला महत्वपूर्ण साहित्य

ऋषि दयानन्द का तत्त्व-दर्शनः पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

अनुवादक **डॉ रूपचन्द्र 'दीपक'** **पृष्ठः 368, मूल्यः 300**

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित 'Philosophy of Dayanand' का हिन्दी अनुवाद। यह ग्रन्थ निराला है। इसकी शैली भी निराली है। सम्पूर्ण आर्य साहित्य में हमारे किसी भी दार्शनिक साहित्यकार ने इतनी सहज, सरल तथा स्वाभाविक युक्तियों से वैदिक सिद्धान्तों का मण्डन नहीं किया जो आपको इस ग्रन्थ में मिलेगा। उपाध्याय जी की कुछ विषयों पर मौलिक व्याख्याएँ अत्यन्त हृदय-स्पर्शी हैं जैसे–मायावाद, स्वप्नवाद, जगत् मिथ्या, जड़पूजा, जातिवाद, मनुष्य पूजा, अंधविश्वास, पाप-पुण्य, अद्वैतवाद, वर्ण व्यवस्था ईश्वर की सत्ता, पितृ यज्ञ, राजधर्म, अवतारवाद, प्रकृति आदि। इन सब सिद्धान्तों पर उपाध्याय जी की लेखनी का लोहा सबने माना है।

दृष्टान्त समुच्चयः श्री शिवशर्मा 'उपदेशक' **पृष्ठः 244, मूल्यः 125**

दृष्टान्त कठिन से कठिन विषय को भी किसी भी जिज्ञासु को बहुत सरलता से समझा देता है। इस पुस्तक में कोई व्यर्थ हंसी दिल्लगी या समय खोने के दृष्टान्त नहीं हैं, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा प्राप्त इन रत्नों को देख और पढ़कर आपको अवश्य ही आनंद प्राप्त होगा और श्रेष्ठ जीवन जीने की प्रेरणा मिलेगी।

The Sanskar Vidhi by Swami Dayanand Pages: 416, Price Rs. 325.00
English Translation by Dr. Satya Prakash Beegoo (Mauritius)

Ceremonial rites and rituals occupy a place of most importance in the life of a devout Hindu. Present book provides simple and adequate knowledge of different sanskaras of Vedic traditions. This Scholarly work envisage how sacraments have the power to purify and enlighten us from within.

वेद के पाठक सावधान! शिवनारायण सिंह गौतम

विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जाने वाली पुस्तकों में वेद एवं वेद संबंधी अनेक भ्रान्तिमूलक विषयों को सम्मिलित किया गया है जो कि सत्य से बहुत दूर हैं। ऐसी ही कुछ गलत धारणाओं तथा कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय लेखकों व इतिहासकारों द्वारा वेदों पर किये गये आक्षेपों का समाधान इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। **पृष्ठः 268, मूल्यः 150.00**

ikfIr LFkku% fot;dqekj xkfoUnjke gkIkuUn
4408] ubZ lM+d] fnYyh&6] njHkk"k 23977216] 65360255
Email: ajayarya16@gmail.com Web: www.vedicbooks.com

फरवरी 2014 में प्रकाशित उपयोगी साहित्य

ऋषि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी
डॉ. भवानीलाल भारतीय **रु. 95.00**

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने ऐसे 50 व्यक्तियों के जीवनवृत तथा स्वामी दयानन्द से इनके पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना की है जो भक्त, प्रशंसक तथा सत्संगी इन तीन वर्गों में परिगणित किये जा सकते हैं।

OM The Symbol of God by Sh. J.M. Mehta **Rs. 60.00**

In this small book, an attempt has been made to describe briefly, various aspects of OM. These inter-alia include its meanings, the origin, its common usage and description in various holy scriptures and its linkage with other faiths etc. Some methods of meditation and Om JAPA are also stated.

Children's Quest by Madan Raheja **Rs. 60.00**

Children accept the beliefs what we teach them in their childhood and they follow the same beliefs life long. It's our duty to teach them properly about our Indian culture and ancient religious beliefs.

The Essence of Satyarth Prakash by J.M. Mehta **Rs. 60.00**

This work can be trated as a comprehensive introduction. It is suggested that after reading this book, the reader should go to the original work of Swami Dayanand for full benefit and appreciation of the light brought out by him from the Vedas and the later scriptures.

Swami Dayanand Saraswati In the Eyes of Some
Distinguished Scholars Edited by Dr. Vivek Arya Rs. 75.00

This book is a collection of views of few among those distinguished scholars and fans of Swami Dayanand Saraswati, who published their views on the asupicious occasion of Birth Century year of Swamiji.

महर्षि दयानन्द की ज़रूरत क्यों? डॉ. अजय आर्य **रु. 50.00**

व्यवहारिक धरातल पर वैदिक सिद्धान्तों की गवेषणा। ऋषि दयानन्द के विचारों की आधुनिक युग में प्रासंगिकता को समझने के लिए डॉ. अजय आर्य के विचार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे।

वैदिक सिद्धान्तों पर सहेलियों की वार्ता पं. सुरेशचन्द्र वेदालंकार **रु. 25.00**

इस पुस्तक का यही उद्देश्य है कि यदि वैदिक सिद्धान्त हमारे मस्तिष्क में बैठ जाएँ तो हम वैदिक और अवैदिक सिद्धान्तों में अन्तर को समझने में समर्थ होंगे और इनके प्रचार-प्रसार द्वारा ही हमारे सभी कष्ट दूर हो सकते हैं।

प्रकाशक-अजयकुमार, मुद्रक-अजयकुमार, स्वामी-अजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6, अजयकुमार द्वारा सम्पादित, प्रिंटर्स-अजय प्रिंटर्स, 1586/C-13, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 में प्रिंट करा, वेदप्रकाश कार्यालय, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6 से प्रसारित किया। न्यायक्षेत्र-दिल्ली।